THE TIMES OF INDIA

Date:30-01-24

What's 'Social Justice'?

Politics has emptied the phrase of meaning. Quotas & free cycles are not it

TOI Editorials

Social justice' politics abounds. But social justice delivery is often piecemeal, compartmentalised, hobbled by conflicts and for few groups. Stretched and reshaped by political competition, social justice has morphed into a catch-all term for welfare measures and every populist promise made, north to south. Such a superficial sweep empties social justice of its core meaning – equal access to all resources, education to health to mobility, jobs to justice and expression.

Jobs is justice | In talk of uplift and targeted programmes for marginalised, an essential pillar has long been invisibilised. There can be no meaningful social justice without economic justice. Yet, inequality is seemingly entrenched, latest CMIE data showed unemployment rate has climbed to its highest in over two years, joblessness in rural areas has increased. Yet, state after state, party after party, offers as succour quotas or proportional representation in the name of 'social justice'.

Quotas a dead-end | Once quotas were allowed on criteria beyond social marginalisation, it opened the doors for even well-off communities to claim similar 'benefits' – but what is the stuff of such benefits beyond periodic handouts? Making thinner and thinner slices of a shrinking economic pie is unsustainable. As economic inequality grows, so do quota demands. Who has the roadmap post-quota?

Nothing new | That said, post-globalisation, welfarism is universal politics – there is no 'newness' to a govt or political parties designing leg-ups, trickle-downs, affirmative actions or handouts, whether dole, or insurance, gas cylinders or cash benefits, bicycles or laptops. Fact is, social justice in its true form remains as peripheral as the communities that need it most.

Diversity without equity | India's fabled diversity is a tapestry of its fault lines – caste, tribe, religion, ethnicity, region, language, gender. Leave these aside for a minute. Two relatively modern marginalised populations where several fault lines dovetail are seasonal migrants and undertrials behind bars who can't afford bail. Both growing, both without access to basic rights. Who looks out for them, who protects their right to proper wages or legal help? It is this that lies at the core of social justice – equity.

Votes, women & jobs | Economic empowerment, the world of work, is central to real social justice. India-style 'social justice' is perhaps best demonstrated by the fact that women's turnout during elections is ever-increasing while their actual participation in the workforce is in alarming decline.

दैनिक भास्कर

Date:30-01-24

राजनीति में नैतिकता की दुहाई देना अब बेमानी है

संपादकीय

विलियम क्ले का मशहूर कथन था, 'राजनीति में कोई स्थाई मित्र या बैरी नहीं होता, केवल हित ही स्थाई होता है, चाणक्य ने भी 'न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित् कस्यचित् रिपुः । अर्थतस्तु निबध्यन्ते, मित्राणि रिपवस्तथा' कहा था। सत्ता के खिलाड़ियों के लिए इसका मतलब हर किस्म का समझौता (नैतिक, अनैतिक) बना। चूंकि राजनीति आज हमारे सामाजिक, वैधानिक और आर्थिक ही नहीं, धार्मिक जीवन तक को प्रभावित करती है, इसलिए ये सिर्फ सत्ता का खेल बन गई। लिहाजा 144 करोड़ जनता को यह विश्वास कैसे होगा कि तीन ट्रिलियन डॉलर की आर्थिकी और करीब 50 लाख करोड़ रुपए के बजट और करोड़ों युवाओं के भविष्य के नियंता वे होंगे, जिन ईमान-धर्म ही सत्ता है। आखिर जो नेता, पार्टी या पार्टी-समूह वोट के समय अपने पक्ष में सैद्धांतिक चाशनी में डालकर कुछ दावे करता हो। और दूसरे पक्ष को उसी सिद्धांत के खिलाफ बताते हुए उनके मत हासिल करता हो, वही कैसे उसी के साथ सरकार बना सकता है? क्या जनता को यह शक नहीं होगा कि सत्ता में रहने की मजबूरी के लिए यह या वह दल आर्थिक और नीतिगत समझौते नहीं करेगा? ऐसा नहीं है कि सत्ता हासिल करने, बचाने और पलटने का यह अनैतिक खेल कोई नया है। चुनी हुई विपक्षी सरकारों को केंद्र की सरकार द्वारा हटाकर राष्ट्रपति शासन लगाने से लेकर रातों-रात 'माननीयों' को रिजॉर्ट में ले जाना ताकि ये सूटकेस देखकर न फिसलें या दल-बदल के लिए सूटकेस की साइज बढ़ाते जाना इसी गणतंत्र में होता रहा । जनता की नजरों में विश्वसनीयता जरूर घटती गई है लेकिन स्वयं जनता ने भी जाति, धर्म को महत्व दिया। लिहाजा राजनीति में भी वे तत्व जो मूल्यों की राजनीति करना चाहते थे, हाशिए पर चले गए। यहां तक कि ऐसे तत्वों को राजनीतिक दलों ने भी अपने से दूर ही रखा।

दैनिक जागरण

Date:30-01-24

संभव है एक साथ चुनाव

डा. एके वर्मा, (लेखक सेंटर फार द स्टडी आफ सोसायटी एंड पालिटिक्स के निदेशक एवं राजनीतिक विश्लेषक हैं)

पूर्व राष्ट्रपति राम नाथ कोविन्द की अध्यक्षता में 'एक देश-एक चुनाव' पर गठित समिति ने देश में सभी पक्षों और जनता से 15 जनवरी तक सुझाव मांगे थे। समिति इन सुझावों पर विचार करने के साथ विभिन्न विशेषज्ञों से मंत्रणा कर रही है। ज्ञात हो कि सर्वप्रथम 1983 में चुनाव आयोग ने लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ करने का सुझाव दिया था। इसके 16 वर्ष बाद 1999 में जस्टिस बीपी जीवन रेड्डी की अध्यक्षता में गठित विधि आयोग ने चुनाव कानून सुधारों पर अपनी रिपोर्ट में इसकी संस्तुति की। वर्ष 2017 में पूर्व-राष्ट्रपतियों प्रणब मुखर्जी और कोविन्द ने भी इसका समर्थन किया। 26 नवंबर, 2017 को नीति आयोग और विधि आयोग द्वारा आयोजित संविधान दिवस पर प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने अपने संबोधन में इस पर राष्ट्रीय विमर्श का आह्वान किया। तब विधि आयोग ने 2018 में इस पर विचार-विमर्श किया और रिपोर्ट सौंपी।

स्वतंत्रता के बाद चार बार लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ हुए, मगर 1967 में आठ राज्यों में गैर-कांग्रेसी गठबंधन सरकारें बनने और दलबदल की समस्या से अस्थिरता आने के कारण यह क्रम टूट गया। आज चुनाव आयोग को प्रतिवर्ष चार-पांच राज्यों में चुनाव कराने पड़ते हैं, जिसमें अपने दल के स्टार प्रचारक के रूप में प्रधानमंत्री और तमाम मंत्रियों को लगना पड़ता है। इससे शासन-प्रशासन प्रभावित होता है। आदर्श आचार-संहिता से विकास कार्यों में बाधा पड़ती है। अत्यधिक धन खर्च होता है। पढ़ाई में व्यवधान उत्पन्न होता है। दक्षिण अफ्रीका, स्वीडन, बेल्जियम, इंडोनेशिया और अमेरिका जैसे कई देशों में एक-साथ चुनाव होते हैं, जो दर्शाता है कि एक साथ चुनाव लोकतंत्र और संघवाद के विपरीत नहीं। इंग्लैंड में भी 2011 में संसद ने 'निश्चित कार्यकाल अधिनियम' पारित किया जिसके अनुसार मध्यावधि चुनाव तभी होंगे जब संसद दो तिहाई बहुमत से इसकी संस्तुति करे। इंग्लैंड में सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाए, तब भी प्रधानमंत्री संसद को तुरंत भंग नहीं करा सकता। संसद के पास विकल्प होता है कि वह 14 दिनों के भीतर वैकल्पिक सरकार गठित कर सके।

जहां तक एक साथ चुनाव की बात है तो इस राह में भारत में दो प्रमुख संवैधानिक अवरोध दिखते हैं। पहला यह कि भिन्न-भिन्न समयावधि वाली विधानसभाओं और लोकसभा को एक साथ चुनाव के लिए कैसे साथ लाया जाए? चुनावों को एक साथ कराने का मुद्दा टेढ़ा है। इसमें कानूनी और संवैधानिक तरीकों के साथ-साथ विभिन्न राजनीतिक दलों और राज्य सरकारों में आम सहमति की जरूरत भी होगी। संभव है कि कुछ विधानसभाओं का कार्यकाल बढ़ाना पड़े और कुछ सरकारों को समय से पूर्व त्यागपत्र दिलाना पड़े। यह उतना आसान नहीं होगा। दूसरा अवरोध यह है कि एक साथ चुनाव हों भी तो कैसे सुनिश्चित किया जाए कि यह क्रम बना रहे। एक बार निर्वाचित होने पर अनेक कारणों से लोकसभा या विधानसभाओं को भंग होना पड़ता है। जैसे प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री पांच वर्ष के पहले ही त्यागपत्र दे दे। सरकार अविश्वास के प्रस्ताव पर पराजित हो जाए और लोकसभा या विधानसभा को भंग करने की सलाह दे। अनुच्छेद 356 के अंतर्गत किसी राज्य में आपातकाल लागू होने पर सरकार को बर्खास्त कर विधानसभा भंग कर दी जाए। सरकार का बजट प्रस्ताव गिर जाए और वह त्यागपत्र देकर नए चुनाव की सलाह दे या चुनावों के बाद कोई भी सरकार बनाने की स्थिति में न हो और पुनः मध्यावधि चुनाव करना पड़े आदि-इत्यादि। स्पष्ट है कि उपरोक्त प्रत्येक स्थिति में लोकसभा या विधानसभाएं भंग होती हैं, जिससे चुनावों का क्रम बिगड़ता है। ऐसे में सरल उपाय यह है कि संविधान से लोकसभा और विधानसभाओं के भंग होने का प्रविधान ही समाप्त कर दिया जाए और उसे निलंबित रखने का प्रविधान किया जाए। इससे चुनावों का पंचवर्षीय क्रम नहीं बिगड़ेगा। निर्वाचित प्रतिनिधियों को पूरे पांच वर्ष का कार्यकाल मिलेगा। विकास

कार्यों में बाधा नहीं आएगी। शासन और प्रशासन का ध्यान नहीं बंटेगा। पढ़ाई प्रभावित नहीं होगी तथा जनता और चुनाव-आयोग को बार-बार चुनावों से छुटकारा मिलेगा।

सरकारों के गिरने से उत्पन्न अस्थिरता से निपटने के लिए जर्मनी के संविधान का अनुसरण किया जा सकता है। जर्मन संविधान के अनुच्छेद 67 के अनुसार विपक्ष अपने प्रधानमंत्री (चांसलर) के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव तभी ला सकता है, जबकि वह पहले उसका उत्तराधिकारी चुने, जिससे सरकार गिरने की स्थिति में देश को तत्काल एक नई सरकार मिल सके। हालांकि यदि चांसलर स्वयं विश्वास प्रस्ताव लाए (जैसे बजट पर) और हार जाए तो अनुच्छेद 68 के अनुसार वह सदन को तत्काल भंग नहीं करा सकता। सदन को 21 दिन का समय मिलता है कि वह कोई नया चांसलर चुन सके। इसे कुछ संशोधनों के साथ हम स्वीकार कर सकते हैं, जिससे बिना चुनाव कराए सरकारों में परिवर्तन हो सके। फिर भी, दोबारा 1967 जैसी स्थिति न उत्पन्न हो और चुनावों का पंचवर्षीय क्रम बना रहे, इसके लिए संविधान के अनेक प्रविधानों जैसे अनुच्छेद 75(3), 83, 85(1), 113, 164(2), 172, 174(1), 203, 243(यू), संविधान के भाग 15 (चुनाव संबंधी), 10वीं अनुसूची, और जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950-51 एवं लोकसभा की कार्यप्रणाली संबंधी नियम 198 आदि में संशोधन करना पड़ेगा। इनमें कुछ संशोधनों के लिए आधे राज्यों की सहमति की भी जरूरत पड़ेगी।

यह कार्य दुष्कर अवश्य है, लेकिन असंभव बिल्कुल नहीं। इस मुद्दे पर वर्तमान सांसद और विधायक एकमत हो सकते हैं, क्योंकि इसमें उनका भी व्यापक लाभ निहित है। एक बार निर्वाचित होने पर उनका पांच वर्ष का कार्यकाल सुरक्षित हो जाएगा और वे भी रोज-रोज के चुनावी झंझट से बचेंगे। फिर चुनाव बहुत खर्चीले भी हो गए हैं और सभी जनप्रतिनिधि चाहेंगे कि किसी तरह उनको पांच वर्ष के पूर्व चुनाव में न उतरना पड़े। यदि मोदी सरकार सभी सांसदों और सभी राज्यों के विधायकों को इसे समझा सकी तो उपरोक्त सभी संशोधनों पर दलीय सहमति प्राप्त की जा सकेंगी।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:30-01-24

डब्ल्यूटीओ में भारत का खाद्य सुरक्षा का संघर्ष

अजय श्रीवास्तव, (लेखक ग्लोबल ट्रेड रिसर्च इनीशिएटिव के संस्थापक हैं)

विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) का 13वां मंत्रिस्तरीय सम्मेलन अबू धाबी में 26 से 28 फरवरी तक होगा। इस सम्मेलन में भारत का ध्यान प्रमुख तौर पर इस बात पर केंद्रित रहेगा कि वह कैसे डब्ल्यूटीओ के कृषि समझौता नियमों (एओए) का उल्लंघन किए बिना अपने किसानों से न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) पर खाद्यान्न खरीदने के अपने अधिकार की रक्षा कर सके। भारत इस अनाज को बाद में गरीबों में बांटता है।

भारत द्वारा एओए सीमा का उल्लंघन

एओए के मुताबिक भारत जैसे विकासशील देशों को किसी उत्पाद के बाजार मूल्य का 10 फीसदी तक मूल्य समर्थन देने की इजाजत होती है। 2020-21 में भारत ने चावल के मूल्य समर्थन में 15 फीसदी का इजाफा किया। बहरहाल अमेरिका

तथा अन्य देशों का दावा है कि भारत करीब 94 फीसदी तक मूल्य समर्थन देता है। अमेरिका की दलील है कि इतना अधिक मूल्य समर्थन भारत को सबसे बड़ा चावल निर्यातक बनाता है और वैश्विक बाजार में उसकी हिस्सेदारी 40 फीसदी से अधिक है।

आकलन के अंतर की समझ

एओए की गलत प्रविधि भारत और अमेरिका के आकलन में बड़ा अंतर पैदा करती है। एओए विकासशील देशों के साथ भेदभाव करता है और अमेरिका को यह इजाजत देता है कि वह एओए के पाठ के साथ छूट ले सके।

आइए देखते हैं कि एओए सब्सिडी और बाजार मूल्य समर्थन (एमपीएस) का आकलन किस प्रकार करता है: एमपीएस तय बाहरी संदर्भ मूल्य और एमएसपी के लिए योग्य उत्पादन मात्रा से गुणा किए गए लागू प्रशासित मूल्य का अंतर होता है।

हमें इन शर्तों को समझना होगा तभी हम यह जान पाएंगे कि एओए को कैसे विकासशील देशों के खिलाफ तैयार किया जाता है। एओए 262.51 डॉलर प्रति टन का तयशुदा बाहरी संदर्भ मूल्य इस्तेमाल करके चावल के मूल्य समर्थन का आकलन किया जाता है।

यह कीमत सन 1986 से 1988 तक के चावल के निर्यात या आयात मूल्य पर आधारित होती है और अपरिवर्तित रहती है। एमएसपी की तुलना 35 वर्ष पुराने संदर्भ मूल्य से करने के कारण सब्सिडी का हिस्सा अधिक होता है। एमएसपी भारत में लागू प्रशासित मूल्य है।

एओए 'पात्र उत्पादन' के रूप में उस उपज को परिभाषित करता है जो एमएसपी के लिए पात्र होती है, भले ही उसे खरीदा गया हो या नहीं। अमेरिका का तर्क है कि चूंकि भारत की एमएसपी नीति सरकार की चावल खरीद की सीमा तय नहीं करती इसलिए देश के समस्त चावल उत्पादन को सब्सिडी आकलन का पात्र माना जाना चाहिए।

बहरहाल भारत एमएसपी कार्यक्रम के तहत खरीदी गई मात्रा को ही आकलन में शामिल करता है।

मुद्रा का इस्तेमाल

अमेरिकी डॉलर और भारतीय रुपये के बीच की विनिमय दर सन 1986-88 के 13.5 से बढ़कर इस समय 86 हो चुकी है। भारत अपनी सब्सिडी का आकलन अमेरिकी डॉलर में करता है और कमजोर रुपये का लाभ उठाता है। अमेरिका कहता है कि भारत को आकलन के लिए भारतीय रुपये का इस्तेमाल करना चाहिए ताकि उसे मुद्रा अवमूल्यन का लाभ न मिल सके। अमेरिका का रुख अतार्किक है। एओए यह नहीं बताता है कि आकलन किसी खास मुद्रा में ही होना चाहिए। अमेरिका और भारत उपरोक्त शर्तों को अलग-अलग ढंग से परिभाषित करते हैं। इसके चलते अमेरिका मानता है कि भारत चावल को 94 फीसदी मूल्य समर्थन देता है जबकि भारत का अपना आकलन 15.2 फीसदी का है।

बाली राहत

भारत ने डब्ल्यूटीओ में पब्लिक स्टॉकहोल्डिंग (पीएसएच) के मसले को हल करने के लिए तगड़ी हिमायत की जिसके चलते 2013 में बाली मंत्रिस्तरीय सम्मेलन में एक 'शांति उपबंध' को अपनाया गया। यह तब हुआ जब भारत ने जोर दिया कि व्यापार सुविधा समझौते पर तभी सहमति होगी जब पीएसएच का मसला हल किया जाएगा। शांति उपबंध डब्ल्यूटीओ के सदस्यों को किसी ऐसे देश को चुनौती देने से रोकता है जो किसी जिंस के लिए तय मूल्य समर्थन का उल्लंघन करता हो। 2018-19 में भारत ने इस उपबंध का इस्तेमाल करके अपने चावल पीएसएच कार्यक्रम का बचाव किया था जबकि उसका समर्थन 10 फीसदी की सीमा पार कर गया था। हालांकि बाली निर्णय कुछ राहत देता है लेकिन यह सीमित है और इसका इस्तेमाल करने वाले देशों से विस्तृत रिपोर्टिंग की आवश्यकता होती है। ऐसे में भारत पीएसएच के मसले पर एक स्थायी हल पर जोर देता है। बहरहाल अगर कोई प्रगति नहीं होती है तो भारत शांति उपबंध की मदद से एमएसपी कार्यक्रम जारी रख सकता है।

विकसित देशों के अनुकूल है एओए

एओए के मुताबिक जिन देशों ने 1986-88 के दौरान अधिक न्यूनतम मूल्य समर्थन दिया था उन्हें यह इजाजत है कि वे 5 फीसदी की सीमा को पार करना जारी रख सकें। इसके परिणामस्वरूप अमेरिका और यूरोपीय संघ आज चुनिंदा फसलों के लिए 50 फीसदी और 65 फीसदी तक मूल्य समर्थन देते हैं और फिर भी नियमों के अनुरूप हैं। वहीं भारत को 15 फीसदी मूल्य समर्थन देने पर भी अनुपालन न करने वाला बताया जा रहा है। एओए विकसित देशों को यह मौका भी देता है कि वे इन वस्तुओं पर उच्च निर्यात सब्सिडी प्रदान करें।

पीएसएच पर दो विकल्प

तेरहवें मंत्रिस्तरीय सम्मेलन में भारत पीएसएच कार्यक्रम को 'ग्रीन बॉक्स' समर्थन के रूप में स्पष्ट वर्गीकरण की मांग करता है क्योंकि इससे उसे समर्थन स्तर कम करने दायित्व से छूट मिलती है। इसकी कामयाबी की संभावना कम है क्योंकि अमेरिका तथा कई विकसित देश ऐसा नहीं चाहते।

पीएसएच के मुद्दे को स्थायी रूप से हल करने के लिए भारत अपने पीएसएच स्टॉक से व्यावसायिक रूप से चावल का निर्यात न करने का वादा कर सकता है। उच्च चावल उत्पादकता वाला चीन इसके निर्यात को बढ़ावा नहीं देता। चूंकि एक किलो चावल के उत्पादन में औसतन 800 से 1,200 लीटर पानी लगता है इसलिए कई भारतीय राज्यों में बिना नि:शुल्क बिजली के उत्पादन कठिन हो सकता है।

भारत कुछ फसलों के लिए उच्च उत्पादन लक्ष्य तय कर सकता है और केवल 75 फीसदी उत्पादन को समर्थन देने की बात कर सकता है। यह रणनीति एओए की ब्लूबॉक्स रणनीति के अनुकूल होगी जिसका इस्तेमाल चीन एओए की सीमा से बचने के लिए करता है। बहरहाल इसके लिए सावधानीपूर्वक विचार करना होगा क्योंकि उत्पादन सीमा तय करना राजनीतिक दृष्टि से कठिन हो सकता है।

संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन का अनुमान है कि अगले 30 सालों में विकासशील देशों का खाद्यान्न आयात तीन गुना हो सकता है। वे अधिकांश खाद्यान्न विकसित देशों से आयात करेंगे। ध्यान रहे कि अंतरराष्ट्रीय खाद्यान्न बाजार में चार कारोबारी 90 फीसदी कारोबार का प्रबंधन करते हैं।

सब्सिडी की सीमा का उल्लंघन करने वाले देशों पर एमएसपी और खाद्य सुरक्षा कार्यक्रम रोके जाने का जोखिम रहता है जिससे आयात पर उनकी निर्भरता बढ़ती है। क्या यह एओए का छिपा एजेंडा नहीं हो सकता? अफवाह है कि करगिल के पूर्व वाइस-प्रेसिडेंट डैन एम्सटुट्ज ने एओए का पहला मसौदा तैयार किया था। भारत को कृषि व्यापार से जुड़े किसी भी मसले पर अपने हथियार डालने की जरूरत नहीं है।

आखिर में, भारत को अपनी विशेषज्ञ टीम बढ़ानी चाहिए। फिलहाल हमारे पास ऐसे कम ही विशेषज्ञ हैं जो कृषि व्यापार के मुद्दों पर ध्यान दे सकें जबकि अमेरिकी के पास ढेर सारे विशेषज्ञ हैं जो भारत के कृषि व्यापार के मसलों को देखते हैं।

राष्ट्रीय सहारा

Date:30-01-24

मध्य भारत का फेफड़ा बचाना होगा

सुरेश भाई

मध्य भारत के छत्तीसगढ़ राज्य के तीन जिले कोरबा, सूरजपुर, सरगुजा में एक जंगल है, उसका नाम है हंसदेव अरण्य। यह 1,70,000 हेक्टेयर क्षेत्रफल में फैला हुआ है। इस भरपूर जैव विविधता के बीच में गोंड जैसे आदिवासी समुदाय का पुश्तैनी निवास स्थान है। इस वन भूमि को कोयला निकालने के लिए खदान कंपनियों को आवंटित कर दिया गया है। वर्तमान में यहां परसा ईस्ट एवं केते कोल बासेन खदान के लिए 1136 हेक्टेयर वन क्षेत्र में फैले लगभग 2 लाख से अधिक पेड़ों पर संकट मंडरा रहा है, जिसका विरोध यहां के आदिवासी लोग कर रहे हैं। बताया जाता है कि अब तक 1.37 हेक्टेयर जंगल काटे जा चुके हैं। लगभग एक दशक से हंसदेव के जंगल को कोयले के खदान के लिए नष्ट किया जा रहा है। इसके लिए रात-दिन बड़ी-बड़ी भीमकाय मशीनें जंगल की जड़ों को उधेड़ने का काम कर रही है।

यहां पर 10 हजार से अधिक आदिवासी समाज के लोग निवास करते हैं। जिन्हें अपनी जमीन और जंगल से बेदखल होना पड़ेगा। भूगोल के जानकार मानते हैं कि यह जंगल मध्य भारत का फेफड़ा है। जहां से शुद्ध हवा, पानी, मिट्टी का सतत प्रवाह है और आदिवासी लोगों की आजीविका इसी से चल रही है। हंसदेव (कोरबा) का जंगल झारखंड और उड़ीसा की सीमा से भी लगा हुआ है। माइनिंग के लिए जंगल की नीलामी के बाद से यहां बड़ी संख्या में पेड़ों का कटान चल रहा है। आदिवासी छात्र संगठन ने भी सरकार से कटान रोकने की मांग की है। देश के कोने-कोने के पर्यावरणविद् और सामाजिक कार्यकर्ता हंसदेव जंगल को बचाने के लिए केंद्र और राज्य सरकार से गुहार लगा रहे हैं। हंसदेव जंगल की कटाई के लिए जिस तरह से रास्ता खोला गया है उसी तरह से पहले भी बक्स्वाहा, दिवांग घाटी, उत्तराखंड में लाखों पेड़ों की प्रजातियां काटी जा चुकी है। अंधाधुंध जंगल काटने के ये ऐसे उदाहरण है, जिसके आधार पर कह सकते हैं कि जिस तरह से ग्लोबल में पर्यावरण को स्वस्थ रखने के लिए हम अपनी भूमिका को रेखांकित करते हैं; उसकी सच्चाई स्थानीय स्तर पर कुछ और ही देखने को मिलती है। वन विनाश की ऐसी स्थिति में अवश्य ही हम आने वाली पीढ़ियों के लिए

बैंक बैलेंस तो छोड़ सकते हैं, लेकिन हवा, पानी की बर्बादी करके कोई भी मनुष्य बैंक से पैसे निकाल कर असुरक्षित पर्यावरण में जीवन नहीं जी सकता है, लेकिन आदिवासी लोग अपने जंगल की उपयोगिता को अच्छी तरह से समझते हैं, जिसका उदाहरण है कि वे इस कंपकंपाती ठंड में भी अपने बच्चों और महिलाओं के साथ दिन-रात रैली, प्रदर्शन, जुलूस निकालकर हंसदेव जंगल को बचाने की मांग कर रहे हैं।

चिंताजनक है कि कोई भी राजनीतिक दल कंधा-से-कंधा मिलाकर प्रत्यक्ष रूप से उनका साथ नहीं दे रहे हैं। स्थानीय नेता यदा-कदा अपने वोट बैंक के लिए क्षण भर के लिए जरूर साथ हो जाते हैं, लेकिन पूरी तरह से जंगल बचाने के इस आदिवासी प्रयास के साथ जनप्रतिनिधियों की हिस्सेदारी संतोषजनक नहीं दिखाई दे रही है। वैसे भी पर्वतीय इलाके हो या आदिवासी क्षेत्र में जहां लोग थोड़ा भी पढ़-लिखकर नौकरी के लिए बाहर चले गए हैं, वहां भी पलायन कर गए लोग अपने यहां के जंगल बचाने में कोई सहयोग नहीं कर पाते हैं। यह जगजाहिर है कि जहां पर भी प्राकृतिक संसाधनों की कीमत पर विकास परियोजनाएं और खनन की शुरुआत होती है; वहां सबसे पहले संबंधित क्षेत्र के नवयुवक नौकरी के लिए कंपनियों के मालिक से मिलने लगते हैं।

वे बहुत ही अल्प समय के रोजगार के लिए नौकरियां प्राप्त कर लेते हैं। उनके सामने चाहे उनके जंगल कट रहे हों या उनकी खेती-बाड़ी नष्ट हो रही हो; उसका वे जरा भी विरोध नहीं कर पाते हैं। किसी भी परियोजना प्रभावित क्षेत्र में इस अल्प समय के रोजगार में शामिल होने वाले नौजवानों की संख्या हजारों तक भी पहुंच जाती है और वे पैसे के लालच में अपने प्राकृतिक संसाधनों की पूरी कीमत खो बैठते हैं। और स्थानीय विरोध के चलते भी लोगों की स्थाई जीवनशैली को बहुत बड़ा भारी नुकसान पहुंचता है। कहते हैं कि इसी तरह देश में पर्वतों और नदियों पर निर्माणाधीन एवं निर्मित विकास परियोजनाओं के कारण लगभग 7 करोड़ से अधिक लोग प्रभावित हुए हैं।

खनन के नाम पर हसदेव जंगल को जितनी बेरहमी से नुकसान पहुंचाया जा रहा है। उसका उत्तर यही मिलता है कि इसके बदले नए स्थान पर वृक्षारोपण का आासन मिलता है। इस सच्चाई को पुराने अनुभव के आधार पर सत्यापन करने की आवश्यकता है कि नर्मदा घाटी और भागीरथी घाटी, कोसी घाटी सिंधु घाटी यमुना और गंगा घाटी में बनाई गई बड़ी-बड़ी जल परियोजनाओं और सड़कों के निर्माण से काटे गए लाखों जंगल के बदले कहां-कहां जंगल खड़े हुए हैं? उसकी सही पहचान करने की जरूरत है। तभी समझ में आता है कि यह केवल भारत में ही नहीं बल्कि पूरे वि में पर्यावरण को स्वस्थ रखने वाले जंगलों के प्रति मौन लापरवाही महाविनाश के संकेत देती है।